Indian Streams Research Journal
Vol - I , ISSUE - III [April 2011] **ISSN:-2230-7850**

जनवादी साहित्य और कविता का अन्तर्सम्बन्ध

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग, राजकीय महाविद्यालय, रानीगंज, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)

शोध–सार :

यह शोध–पत्र जनवादी साहित्य और कविता के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्ध का विश्लेषण करता है। जनवादी साहित्य का मूल उद्देश्य समाज के श्रमिक, वंचित और हाशिए पर स्थित वर्गों के जीवन–संघर्ष, शोषण और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देना है, जबकि कविता अपनी संवेदनात्मक शक्ति, प्रतीकात्मकता और भाषा–वैविध्य के माध्यम से इन यथार्थों को अधिक प्रभावी ढंग से संप्रेषित करती है। इस अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि कविता जनवादी चेतना के प्रसार का एक सशक्त माध्यम रही है, जिसने सामाजिक असमानताओं, वर्ग–संघर्ष, अन्याय और दमन के विरुद्ध प्रतिरोध की आवाज को सृजनात्मक रूप में प्रस्तुत किया। आलेख में प्रगतिवाद और जनवादी आन्दोलन के संदर्भ में हिन्दी कविता के विकास का परीक्षण किया गया है। जनवादी काव्य में जनजीवन की यथार्थपरक अभिव्यक्ति, लोकभाषा का प्रयोग तथा सत्ता–विरोधी स्वर प्रमुख रूप से उभरकर सामने आते हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट किया गया है कि जनवादी साहित्य केवल वैचारिक आग्रह नहीं, बल्कि एक जीवंत रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें कविता समाज के साथ सक्रिय संवाद स्थापित करती है। अंततः, यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि जनवादी साहित्य और कविता के बीच गहरा और अविच्छिन्न सम्बन्ध है, जहाँ कविता जनवादी विचारधारा को संवेदनात्मक गहराई और व्यापकता प्रदान करती है, वहीं जनवादी दृष्टि कविता को सामाजिक प्रासंगिकता और ऐतिहासिक चेतना से संपन्न बनाती है। इस प्रकार, दोनों मिलकर साहित्य को समाज परिवर्तन का एक प्रभावी उपकरण बनाते हैं।

कुंजी शब्द : जनवादी साहित्य, जनवादी कविता, प्रगतिवाद, सामाजिक यथार्थ, वर्ग–संघर्ष, लोकचेतना।

यदि जनवादी साहित्य और कविता के सम्बन्ध में कुछ अवधारणात्मक टिप्पणियों की ओर दृष्टिपात करें, तो डॉ. शिवकुमार मिश्र ने जनवादी कविता को 'जनता की ज़िन्दगी के बीच में उगते हुए उसकी आशाओं–आकांक्षाओं, उसके स्वप्नों तथा संघर्षों को वाणी देने वाली कविता' कहा है, वहीं डॉ. कुँवरपाल सिंह जनवाद को 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और सामंती व्यवस्था और उसके जीवन–मूल्यों के सक्रिय विरोध' के रूप में देखते हैं। मुक्तिबोध इस सम्बन्ध में कहते हैं कि 'जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य, जो जनता के जीवन–मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसरित करता हो', मुक्तिबोध उस समूचे साहित्य को, जिसकी वर्गीय पक्षधरता शोषित वर्ग के साथ हो, को जनवादी साहित्य की संज्ञा देते हैं। समग्रतः देखें तो जनवादी साहित्य या कविता से तात्पर्य दो आयामों में लिया जा सकता है**,** एक तो उसके आधार के तौर पर सामान्य जनता के जीवन–प्रसंगों से सम्भव होने

वाली उद्‌भावना के अर्थ में और दूसरे उसके कथ्य और प्रस्तुति में सत्ता, शक्ति और अन्याय के प्रति जीवन–प्रवाह से विकसित होने वाले सतत प्रतिरोध के सम्बन्ध में। इन प्रतिमानों पर, केवल अस्सी या नब्बे के दशक के बाद के कवि ही नहीं, बल्कि संस्कृत कविता से लेकर नयी कविता और सत्तर के दशक के तमाम कवि भी जनवादी कहे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में संस्कृत के एक अज्ञात कवि का श्लोक याद आता है, जिसका उल्लेख डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा' में किया है, वह श्लोक कुछ इस तरह है–

''हस्तप्राप्यतृणोज्झितारू प्रतिपयोवृत्तिस्खलद्‌भत्तयो दूरालम्बितदारुदन्तुरमुखाः पर्यन्तवल्लीवृताः''

(यह मेरा घर है/हाथ में आया तिनका भी/टिक नहीं पाता इसमें रहकर/हर बरसात में इसमें दीवारें ढहती जाती हैं/बहुत नीचे तक झुक आई बल्लियों से/दाँत निपोरता है मेरा घर/चारों ओर से इसे/जकड़ रखा है बेलों ने)

इसी सिलसिले में मिर्ज़ा ग़ालिब का शेर 'उग रहा है दरो दीवार पे सब्ज़ा ग़ालिब, हम बयाबाँ में हैं घर में बहार आयी है' भी याद आता है। भक्तिकाल के कवि कुम्भनदास की पंक्ति 'संतन को कहा सीकरी सों काम' भी सत्ता के प्रतिपक्ष में खड़े साहित्य की ही एक मिसाल है। इस तरह के तमाम उद्धरण भारतीय साहित्य की परम्परा में जनवादी स्वर के उदाहरण हैं। यह परम्परा हिन्दी कविता की प्रगतिशील परम्परा में निरंतर विकसित होती है और जिसका उत्कर्ष नयी कविता में प्रतिनिधि रूप में हम त्रिलोचन, नागार्जुन, शील और केदारनाथ अग्रवाल जैसे कवियों में हम देख सकते हैं। नागार्जुन का प्रतिहिंसा को स्थायी भाव मानना इस चेतना का ही परिणाम है। इसी परम्परा में धूमिल की कविताएँ भी आती हैं, जो तमाम अन्य प्रभावों के बावजूद जनवादी विचार के प्रति अपनी केन्द्रीयता के लिए ही ख़ासतौर पर पहचानी जाती हैं। कालांतर में जनवादी वैचारिकता से गोरख पाण्डेय, वेणुगोपाल, अदम गोंडवी, राजेश जोशी, आलोक धन्वा, ज्ञानेन्द्रपति, उदय प्रकाश, विष्णु नागर, रमेश रंजक, निर्मला गर्ग, मानबहादुर सिंह और हरीशचन्द्र पाण्डेय जैसे महत्वपूर्ण कवियों ने स्वयं को सम्बद्ध किया। नब्बे के दशक में जब साम्प्रदायिकता और बाज़ारवाद जैसी चुनौतियाँ सामने खड़ी थीं, जनवादी चेतना से लैस युवा कवियों की एक पीढ़ी सामने आयी, जिसमें बहुत से ऐसे नाम हैं जो आज समकालीन हिन्दी–कविता में महत्व के साथ रेखांकित हैं। सम्प्रति यह जनवादी चेतना कवियों की युवतर पीढ़ी तक प्रवहमान है, जिनमें से कई कवि इस संग्रह में सम्मिलित हैं।

साहित्य और अन्य कलाओं की समीक्षा की प्रक्रिया में बहुत से पहलू ऐसे हैं, जिनके बारे में विचार करना हमेशा से एक जोखिम रहा है। ऐसे प्रयासों को प्रायः केवल विचारधारा से सम्बद्ध मान लिया जाता रहा है। यह समझना क्या मुश्किल है कि कविता की व्यापक समझ उसे उसके परिदृश्य, संस्कृति और विचार से अलग कर देखने का प्रयत्न नहीं है।

हिन्दी कविता के साथ प्रारम्भ से यह समस्या रही है कि जब उसमें कोई व्यापक परिवर्तन होता है तो उसकी समीक्षा के लिए कोई नयी प्रविधि तुरन्त नहीं आती। पुराने औज़ारों पर ही कुछ धार वगैरह चढ़ाकर उसकी समीक्षा का प्रयत्न किया जाता है। दृश्टि को बदलने के मामले में हम परम्परावादी हो जाते हैं, जिसके पीछे पर्याप्त कारण हैं। यदि हम कविता के बदलाव के साथ आलोचना के बदले हुए और सुव्यवस्थित रूप की प्रस्तावना करते हैं तो हम उसके माध्यम से चाहे अनचाहे अपने क्लासिक्स को भी देखेंगे, और ऐसा होता भी है। इस पुनर्पाठ में क्लासिक्स की चमक के धुंधले पड़ने का भय हमारा नास्टैल्जिक मन स्वीकार नहीं कर पाता। इसी कारण, पुराने चश्मे से हम अद्यतन कविता को देखते हैं और आहें भरते हैं कि कविता नष्ट हो रही है, विकृत हो रही है और क्या–क्या।

कविता में रूप या संरचना का मामला सम्प्रेषण से सीधा सम्बन्ध रखता है। वर्स और काव्यभाषा दोनों इस संरचना का वह हिस्सा हैं, जो सम्प्रेषण के लिए महत्वपूर्ण हैं। बहुत पहले इलियट ने कहा था कि कविता समझी जाने से पहले सम्प्रेषित होती है। इस पहुँच के लिए काव्यभाषा या वर्स का चुनाव या उसके साथ किये जाने वाले प्रयोगों की अपनी भूमिका है जो सदैव समय सापेक्ष रही है। ऐसे में इस तथ्य से

इनकार नहीं किया जा सकता कि कवि के लिए उसकी कविता में रूप या संरचना का मामला केवल व्यक्तिगत नहीं हो सकता बल्कि बाहरी दबाव भी उसके लिए काम करते हैं। यह बात इस तथ्य के विरोध में जाती हुई लगती है कि कविता का कथ्य स्वयं उसका रूप तय करता है। सम्प्रेषण के लिए ज़रूरी एक खास तरह की काल्पनिक लय को बनाये रखने की कोशिश में हिन्दी कविता का एक बड़ा हिस्सा लोगोसेन्ट्रिक होता गया है। कविता की संरचना पर सम्प्रेषण के दबाव का एक दूसरा पहलू यह भी है कि आज की समकालीन कविता अनायास ही इस दबाव से मुक्त हो गयी है और उसके सामने जो 'पाठक' वर्ग है वह या तो उसके साथी कवि हैं और नहीं तो पर्याप्त काव्यात्मक समझ तो रखते ही हैं।

डॉ. नामवर सिंह की प्रसिद्ध पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' में 'वह तोड़ती पत्थर' कविता के बारे में जानकीवल्लभ शास्त्री को लिखे गये निराला के पत्र का सन्दर्भ है, जिसमें वे कहते हैं कि जो गहन भाव को सीधी भाषा, सीधे छंद में चाहता है, वह धोखेबाज है। अर्थात्, संरचना का सवाल वहाँ भी महत्वपूर्ण है, एक ऐसी कविता में भी जो अपने काव्य–विषय के अनोखेपन के कारण पहले ही सफल हो चुकी थी। इसी क्रम में लम्बी कविताओं की बात है, रोचक है कि अप्रगीतात्मक कही जाने वाली कविताएँ जैसे रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध', श्रीकांत वर्मा की 'समाधि लेख' और यहाँ तक कि स्वप्नमय गद्य की शक्ति का अप्रतिम उदाहरण कही जाने वाली मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' भी कुछ वाक्यपदों की आवृत्ति की एक लय मिलती है, लेकिन इन तथ्यों की ओर समीक्षा का ध्यान कम गया है। क्योंकि यह माना गया कि कविता प्रथम और अन्तिम रूप से शब्द है और लय, छन्द और अन्य चीजें उससे अलग नहीं हैं।

अगर बिल्कुल अभी की बात करें तो कविता की भाषा और स्वरूप गद्य का है। यह माना भी जा सकता है कि यह अभी से नहीं बल्कि निराला के समय से है। लेकिन मुक्तछन्द कविता अद्यतन गद्य कविता से अलग है इसे समझना मुश्किल नहीं है, साथ ही यह भी कि कविता का गद्य अन्य गद्यात्मक विधाओं से अलग है, होना भी चाहिए। आज की कविता में बहुत से कवि इस फॉर्म का प्रयोग कर रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ ज़्यादा नहीं हुआ है और इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि आप उसी गद्य को पैराग्राफ के रूप में लिखते हैं या अपनी इच्छानुसार कुछ सोपानों में तोड़कर। जब हम समकालीन कविता में इन प्रयोगों की बात करते हैं, तो कुछ प्रश्न हमारे सामने आते हैं कि क्या ये प्रयोग सचेतन और सायास हैं और इनका उद्देश्य केवल ध्यानाकर्षण के लिए किया जा रहा है? क्या ये अपने समय के यथार्थ की पूरी अभिव्यक्ति में सक्षम हैं? और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि क्या उस कवि की काव्य–प्रकृति के साथ उस शिल्प की अनुरूपता है?

कई बार कविता की काव्यवस्तु को इसके शिल्प के साथ उसी तरह जुड़ा हुआ देखा जा सकता है, जैसे मांस के साथ त्वचा को, उन्हें अलग करना सम्भव ही नहीं। कई बार कविता का कारुण्य एक पुकार की तरह लिखा जाता है, जो कहीं भीतर एक खरोंच बनाता हुआ चला जाता है। एक पुरानी मान्यता यह भी है कि छोटी कविता में स्टेटमेंट्स नहीं होने चाहिए लेकिन यदि वह किसी तन्द्रा की उपज नहीं है, तो इस आपाधापी के समय में 'लोकेल' की जैसी व्याख्या कवि करना चाहता है उसमें वह स्टेटमेंट्स देते हुए भी बहुत चूकता हुआ नहीं दिखता है।

सरसरी तौर पर यदि आप हिन्दी कविता का जायजा लें तो यह साफ दिखाई देता है कि अब उसमें कोई स्पष्ट वैचारिक उद्वेलन दिखाई नहीं देता। यह बात एक लम्बे समय से कही जा रही है कि इसका कारण समूची हिन्दी पट्टी में उस तरह के आंदोलनों की कमी का होना है, जिनकी उपस्थिति कमोबेश अस्सी के दशक तक बनी हुई थी और उसके बाद वे धीरे–धीरे कमज़ोर होते गये और धूमिल पड़ गये। यही वह दौर है जब हिन्दी कविता में आलोक धन्वा, कुमार विकल, अरुण कमल, राजेश जोशी, विष्णु खरे, मंगलेश डबराल और वीरेन डंगवाल जैसे (अन्य भी कई) कवियों की सशक्त उपस्थिति दिखाई देती है। इसके बरअक्स यदि नब्बे के दशक को देखें तो उस अवधि में भारतीय समाज की दो बड़ी घटनाओं– साम्प्रदायिकता का उभार और उदारीकरण के बाद उपजी बाज़ारवाद की संस्कृति का प्रतिपक्ष हिन्दी–कविता में स्पष्ट दिखाई देता है। यह माना गया कि कई मायनों में यह अस्सी के दशक की कविता की रक्षात्मकता से आगे निकली और प्रतिरोध का स्पष्ट स्वर यहाँ परिलक्षित हुआ। इस कविता में विचारधारा और

प्रतिबद्धता जैसे मूल्य न केवल मौजूद थे, बल्कि आधार और अधिरचना दोनों स्तरों पर गहराई से विन्यस्त थे।

उपर्युक्त तथ्यों को लेकर एक लांग नाइंटीज़ की बहस भी हिन्दी कविता में चली, जिसके निष्कर्षों को लेकर एक व्यापक असहमति का वातावरण रहा। अब अगर हम आगे बढ़कर नयी शताब्दी की कविता की बात करें, तो उसकी समस्याएँ और चुनौतियाँ एकदम भिन्न दिखाई देती हैं। परिघटना के स्तर पर इस अवधि में राजनीतिक वाम का कमज़ोर होते जाना, बाज़ारवाद का अनियंत्रित विस्तार और सूचना–तकनीक का अनियंत्रित विस्फोट जैसी चीज़ें मुख्य रूप से हुई हैं, वहीं दूसरी ओर उत्तरआधुनिक प्रभावों और अस्मितामूलक विमर्शों ने पुराने विमर्शों को लगभग हाशिए पर धकेल दिया। एक दूसरी बात भी इस अवधि में हुई कि तकनीक से उपजी प्रकाशन–बहुलता ने कविता लिखने को एक सहज व्यापार बना दिया, अब ऐसा लगने लगा है कि पहले जिस यांत्रिक पुनरुत्पादन की बात कही जा रही थी, बात उससे भी आगे जा चुकी है। ऐसे में कुछ प्रश्न हमारे सामने हैं कि क्या अब हिन्दी कविता में प्रतिबद्धता और विचारधारा जैसे प्रश्न बेमानी हो चुके हैं? क्या हिन्दी की मौजूदा कविता पूरी तरह आत्मग्रस्तता का शिकार है? इस कविता को पढ़ने पर हम बेचैन क्यों नहीं होते, हमारे भीतर कोई खलबली क्यों नहीं पैदा होती। क्या यह एक तरह की 'क्लब पोयट्री' है, जिसमें पचास कविताओं को पढ़ने के बाद कोई उसी तरह की सौ कविताएँ लिख देता है और यह सिलसिला आगे बढ़ता ही जा रहा है?

आज कई कविताओं में नये किस्म का पोस्टमॉडर्न टेक्स्ट भी देखने को मिलता है। कई बार कविताएँ उत्तरआधुनिक शिल्प में लिखी होने के बावजूद उसके एक बड़े संकेत का निषेध करती हैं। सत्य की निश्चितता को लेकर एक जो 'प्ले' होने की बात लगातार उत्तरआधुनिक विमर्श में कही जाती है, वह 'प्ले' कई बार एक खास दायरे में सीमित होता है। महत्वपूर्ण यह है कि गाहे–बेगाहे हिन्दी के निगहबान ये कह देते हैं कि कविता में कोई अवांगार्द नहीं है, कोई तोड़–फोड़ नहीं है, कविताएँ अच्छी हैं, लेकिन अपनी पूर्ववर्ती सफल कविताओं की छाया हैं। इन सवालों के बारे में सोचते हुए इस तथ्य की पड़ताल की ज़रूरत है कि आख़िर किस ख़तरे के कारण कविता की संरचना के आधार पर उसकी समीक्षा के काम को स्थगित किया जाता रहा है, और वह भी तब, जब कविता में नयेपन की मांग करते हुए आलोचक एक नये शिल्प को ही नवाचार का महत्तम संकेत मानते हों। जिस सुविधाजनक रास्ते पर चलते रहने का आरोप समकालीन कविता के कवि पर लगता है, उससे उतरने वाली पगडंडियों का अँधेरा कुछ साफ हो तो बात बने।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. अग्रवाल, भारत भूषण (1966), नई कविता का आत्मसंघर्ष, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
2. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (1997), हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, नई दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन
3. धूमिल (1972), संसद से सड़क तक, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद (1952) हिन्दी साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
5. जैन, नेमिचंद्र (1984), आधुनिक हिन्दी कविता की दिशा, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
6. मिश्रा, विद्याभूषण (1978), नई कविता और उसका मूल्यांकन, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
7. नारायण, कुँवर (1965), आत्मजयी, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ
8. राघव, रांगेय (1962), आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
9. रोजेनस्टीन, लूसी (2000), New Poetry in Hindi (Nayi Kavita), नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
10. शर्मा, रामविलास (1955), हिन्दी कविता की भूमिका, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
11. शुक्ल, रामचन्द्र, (1929), हिन्दी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली, लोकभारती प्रकाशन
12. सिंह, केदारनाथ (1980), जमीन पक रही है, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
13. सिंह, नामवर (1968), कविता के नए प्रतिमान, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
14. सिंह, नामवर (1982), दूसरी परंपरा की खोज, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
15. सिंह, नामवर (1993), इतिहास और आलोचना, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

16. त्रिपाठी, रामचन्द्र (1974), आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, इलाहाबाद, साहित्य भवन
17. त्रिपाठी, सूर्यकांत 'निराला' (1930), परिमल, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
18. त्रिलोचन, (1980), धरती के गीत, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
19. उपाध्याय, विश्वंभर नाथ (1985), आधुनिक हिन्दी कविता : सिद्धान्त और समीक्षा, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
20. वात्स्यायन, सच्चिदानंद हीरानंद 'अज्ञेय' (सम्पा.) (1943), तार सप्तक, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ
21. वर्मा, महादेवी (1940), यामा, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन
22. वाजपेयी, अशोक (1995), आधुनिकता और हिन्दी कविता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन